

स्वाधीनता के दौर में कुमाऊँ की चैतन्य पत्रकारिता

*डॉ० सुष्मिता पन्त

देश की आजादी की लड़ाई कितने ही मोर्चों पर कितने ही तौर तरीकों से लड़ी गयी थी। गोली, तोप, तलवार, बम व अखबार से विद्रोह कानून भजन, अनशन, प्रदर्शन बहिष्कार से, पर्चे पोस्टर व साहित्य से, गीत कविता, नाटक मंच सभी से स्वतंत्रता की दुन्दभी बजाई गयी थी।

स्वतंत्रता के दीवानों ने रोटी और बारूणी की जगह भूख और फांसी के तख्तों का वरण किया था उन्होंने ऐश्वर्यमयी जिन्दगी की जगह औपनिवेशिक जमाने की जेलों में रहना कबूल किया था।

एक राष्ट्र के रूप में स्वतंत्रता की चाह की गोली सन् 1857 के विद्रोह में दागी गई थी। दगेबाज विभीषणों ने अगर अंग्रेजों का साथ नहीं दिया होता तो भारत और उसकी आजादी का इतिहास तथा वर्तमान कुछ और ही होता।

भले ही यह विद्रोह अपने तात्कालिक लक्ष्यों में असफल हुआ मगर उसने स्वतंत्रता की चाह को पंख दे दिये थे। विदेशी दासता से मुक्ति ही पहला और एकमात्र लक्ष्य बन गया था। सन् 1857 के इस संग्राम और 1947 के बीच 90 वर्ष और लग गये मगर अंग्रेजों को भारत छोड़ना ही पड़ा। किसी भी राष्ट्र के जीवन में नब्बे वर्ष की अवधि ज्यादा अर्थ नहीं रखती है। यह पूरी सदी संघर्ष, बलिदान, उत्पीड़न, कुंठा और संत्रास में बीती। हजारों लाखों लोगों को शहादत गले से लगानी पड़ी।

भारत में अंग्रेजों का राज पूरी तरह तो सन् 1859 में ही कायम हो चुका था पर उसकी नींव सन् 1757 में प्लासी के प्रसिद्ध संग्राम में रखी जा चुकी थी। देश के अनेक भागों में उनका प्रच्छन्न अधिकार हो चुका था। वह एक दूसरे को लड़ाते अथवा शासकों की आपसी लड़ाई में एक का पक्ष लेकर मदद में उतर आते थे तथा जीते हुए राज में अपनी भागीदारी का दावा करते थे। अंग्रेज सन् 1842 तक दिल्ली के सम्राट को अपना सम्राट स्वीकार करते थे अपने को उसकी विनम्र पूजा मानते थे। ईष्ट इण्डिया कम्पनी के सिक्कों को दिल्ली सम्राट का नाम खुदा होता था। कम्पनी के भारतीय इलाकों के गवर्नर जनरल की मोहर में “दिल्ली के बादशाह का फिदविए खास” ये शब्द खुदे रहते थे।

अंग्रेजों ने पुर्तगालियों, डचों के करीब सौ साल बाद सोलहवीं सदी में फ्रांसिसियों के समानन्तर भारत में व्यापारियोंके रूप में प्रवेश किया था और अपनी कुटिल नीति, दगाबाजी के स्वभाव तथा भारतीय के सहज विश्वासी, ईमानदार और वचन पालन करने वाले चरित्र के कारण वह इस देश में अपनी सत्ता कायम करने में सफल रहे। सबसे पहले वह सूरत में और सबसे अंत में बंगाल में पहुंचे थे। पुर्तगालियों ने 15वीं सदी में व्यापारियों के रूप में यहां कदम रखा था और 17वीं सदी तक वह बहुत से भागों के शासक बन बैठे थे। औरंगजेब के समय तक भारत में अंग्रेज व्यापारियों की हालत करीब-करीब वैसी ही थी जैसी हींग बेचने वाले काबुलियों की हुआ करती थी। कुशाग्र बुद्धि वाले फ्रांसीसी सेनापति डुप्ले ने यह अनुभव कर लिया था कि युरोपीय अर्थों में उस समय भारत में राष्ट्रीयता या देशभक्ति का अभाव खो बैठा था। डुप्ले के अनुसार योरोपवासियों के लिए भारतवासियों को एक दूसरे से लड़ा देना निहायत आसान था और इसीलिए भारत अपनी आजादी खो बैठा था। अंग्रेज, “विद्वान कर्नल मोसन का विचार था कि अपनी कौमी चरित्र की जिन कमजोरियों के कारण भारतवासी पराधीन किये जा सके, उनमें एक यह भी थी कि उन्हें “स्वभाव से ही गैरों पर विश्वास कर लेने और उनके साथ ईमानदारी का व्यवहार करने की आदत थी”।

सन् 1757 से 1857 तक के सौ साल के इतिहास से जाहिर है कि वीरता, साहस या युद्ध कौशल में भारतवासी कहीं भी अंग्रेजों से पीछे नहीं रहे। अंग्रेजों के भारत में हुए संग्राम स्वयं अंग्रेजों ने नहीं जीते बल्कि हर बार भारतवासियों ने उन्हें जीतकर अंग्रेजों की झोली में डाला था। दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता की कमजोरी से अंग्रेजों पर प्रभुत्व बढ़ता गया। कर्नाटक,

*इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

कुमाऊ, पूना, कर्ग, सिंध, सतारा, पंजाब, झांसी, बरार, असम और अन्ततः भारत के हृदय स्थली राज्यों का तथा उनके ताल्लुकदारों का अन्त करके अपने राज्य का विस्तार कर लिया था।

इन सबके बावजूद उन्हें उखाड़ फेंकने के प्रयत्न भी लगातार होते रहे। देश ने अपनी मुक्ति के प्रयत्नों को एक क्षण के लिए ढीला नहीं होने दिया। एक प्रच्छन्न संग्राम तभी से छिड़ गया था जब से अंग्रेजों ने भारत भूमि पर अपने बदनीयती भरे कदम रखे थे। टुकड़ों में लड़ी गयी इस लड़ाई में कूटनीति और दगाबाजी से तथा आधुनिक शास्त्रों से व्यापारियों के रूप में आये अंग्रेज जीते गये और भारत के समग्रभू बन गये थे।

सन् 1857 की क्रांति और कूका विद्रोह में सिर्फ 15 वर्ष का अंतर था। सन् 1857 और कांग्रेस के जन्म के बीच 28 वर्ष का ही फासला रहा। इधर कांग्रेस के जन्म और बंग भंग के आन्दोलन में 20 साल का अंतर रहा। बंगभंग और असहयोग आन्दोलन में जिसने एक बार फिर सन् 1857 की क्रांति से भी ज्यादा अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। सिर्फ 15 साल का फासला था। असहयोग आन्दोलन की सफलता में सिर्फ एक इंच की कसर बाकी रह गई थी और हैरान और परेशान था। यह उस समय के गर्वनर जनरल का कहना था।

इधर 22 वर्ष बाद ही सन् 1942 का "करो या मरो", "अंग्रेजो भारत छोड़ो" का देश व्यापी आन्दोलन हुआ तथा सन् 1945 में ब्रिटिश सेना के भारतीय नाविकों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह में अंग्रेजों की हुकूमत हिल गई थी। इसी दौरान नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज ने भारत की आजादी के लिए, बर्मा, इम्फाल, मणीपुर के रास्ते भारत में प्रवेश किया था।

इधर हर नया आन्दोलन और आजादी का प्रयोग पिछली कोशिशों को और मुक्ति की उदासीन आकांक्षाओं को सैकड़ों कदम आगे बढ़ा देता था। लाखों-लाख लोगों और परिवारों ने इस संग्राम में अपने के होम कर दिया। दुर्भाग्य यह रहा कि स्वतंत्रता के बाद जिन लोगों और उसके सैनिकों के बारे में इतनी बेखबर तथा असम्मान की मुद्रा में नहीं होता।

आजादी की लड़ाई में पत्रकारिता देशभक्ति थी। देश की पूजा अर्चना का माध्यम थी। स्वतंत्रता सेनानी तो कोई भी उद्दाम देशभक्त हो सकता था पर पत्रकार तो बिना स्वतंत्रता सेनानी बने, जान जोखिम में डाले बिना कोई हो ही नहीं सकता था। मगर आज इन दीवाने पत्रकारों को लोग भूलते जा रहे हैं। वह समर्पण त्याग और मिशनरी भावना कबकी गायब हो चुकी हैं। पत्रकारिता, स्वतंत्रता संग्राम के दौर में बुनियादी रूप से एक मिशन थी। अपने में एक पेशे के रूप में ही उसका विकास आजादी के बाद हुआ है। जब स्वतंत्रता सेनानी और पत्रकार दोहरी धार पर चला करते थे। पत्रकारों का तो एक कदम प्रमाण सहित जेल में तथा गर्दन फांसी के फंदे पर होती थी। स्वतंत्रता आन्दोलन और पत्रकारिता पर्यायवाची शब्द और अर्थ बन चुके थे। उनके लक्ष्य समान थे। इस संग्राम को एक सूत्र में बांधने का काम अखबार किया करते थे, वह प्रेरणा के स्रोत और विचारों की थाती बने हुए थे। दोनों की मिश्रित धार से अंग्रेज बहुत घबराते थे।

कुमाऊँ में अंग्रेज, पूरे मुल्क पर पूरी तरह कब्जा करने के 35 वर्ष पहले ही 27 अप्रैल 1815 में अपना आधिपत्य जमा चुके थे। चन्द राजाओं के जिन दीवानों ने अपने राक्षसों से खिन्न होकर गढ़वालियों, गोरखों को आमंत्रित किया था। मुस्लिम शासकों की शरण में गये थे, उन्होंने ही 25 वर्ष के गोरखा शासन को पलटने के लिए अंग्रेजों को आमंत्रित किया किया। उन्हें यहां पाव जमाने में सहायता की। सन् 1857 की क्रांति में जब दिल्ली से पटना तक सारा उत्तर भारत अंग्रेजों के हाथों से निकल गया था और स्वतंत्रता के लिए तुमुल संग्राम छिड़ा हुआ था। प्राणों के लाले पड़े अंग्रेजों को हिमालय के इस क्षेत्र में उन्हें शरण और सहायता दी थी। कुमाऊँ और गढ़वाल के पुराने स्वामी और नेपाल के हर्ताकर्ता जंगबहादुर ने गोरखा सेना लेकर भारतीय योद्धाओं से तराई में लड़ने में अंग्रेजों का साथ दिया था। कुमाऊँ के गदर में कमयूरों ने अंग्रेजों की मदद की थी। गदर के बाद जब बड़ी सरकार दिल्ली के लोगों के हथियार छीनने का हुकुम आया तो रामजे ने लार्ड कैनिंग को लिखा था कि मेरी हजारों रियाया शांत और राजभक्त रही है। क्या मैं अपने राजभक्त हिन्द, गोरखा (हाई लैण्डर) पर्वतीय को राजभक्ति का यह इनाम दूं कि उनकी बन्दूकें छीन लूं, जिनको वे हमारी सेवा में उस समय काम में लाये थे

जब हम कठिनाई में थे। रामजे साहब की जबर्दस्त जीत हुई और पहाड़ियों की बन्दूकें नहीं छीनी गईं।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कुमाऊँ में उन दिनों अंग्रेजों से मुक्ति की कामना रखने वाले लोगों का अभाव था। काली कुमाऊँ में बिसंग के प्रधान नेता कालू मेहरा के नाम नवाब वाजिद अली शाह की ओर से गुप्त पत्र आया जिसमें कहा गया कि यदि पर्वतीय लोग गदर में सम्मिलित होंगे तो जितना धन चाहेंगे मिलेगा। शर्त यह भी कि पहाड़ी इलाका पर्वतीयों का और देशी इलाका नवाब का रहेगा। इस पत्र पर कालू मेहरा ने अपने साथियों से गुप्त मंत्रणा की कि कुछ लोग नवाब की तरफ हो जायें, कुछ अंग्रेज की तरफ को कुछ जहां से मिलेगा, बांट लेंगे। कालू मेहरा, आनन्द सिंह फर्त्याल, बिशन सिंह करायत तो लखनऊ के नवाब के यहां गये। माधो सिंह फर्त्याल, नर सिंह लटवाल, खुशाल सिंह जलाल आदि अंग्रेजों की तरफ रहे। पहले तीन औनखेड़ा में पकड़े गये। कालू मेहरा की चानमारी नहीं हुई पर वह 52 जेलों में घुमाये गये। आन सिंह, बिशन सिंह मारे गये। कालू मेहरा के छोटे भाई ने अंग्रेजोंद्वारा पकड़े जाने के भय से फांसी खा ली।

अंग्रेजों की तरफ रहे माधो सिंह, नर सिंह आदि को बरेली तथा पीलीभीत में जागीरें मिली।

सामूहिक फ्रांसीसियों, चांदमारियों मार्शल ला कानूनों और अंग्रेजों के कुटिल चरित्र से कुमाऊँ की जनता में भीतर ही भीतर सुप्त असंतोष बढ़ने लगा। मगर यहां का नेतृत्व सम्पन्न बड़ी जाति वालों खासकर दीवान परिवारों से सम्बन्धित लोगों के हाथों में था। जिसने अंग्रेजों की दासता एक नियामत की तरह कबूल कर ली थी। इसलिए खुलकर उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। अंग्रेजों के सुधार कानूनों और व्यवस्थाओं से इस वर्ग का मोह तब भंग हुआ जब इस वर्ग के हितों पर भी अंग्रेजों ने चोट शुरू की। हरिजन शिल्पकार, दस्तकार, श्रम और कलाकार आश्रित थे। उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति गुलामों की भी गुलाम थी। महिलाओं की भी हालत बदतर थी खासकर शिल्पकार महिलाओं की। वह दासानदासों की भी दास थी। दासों की खरीद फरोख्त के बाजार लगा करते थे।

जातियों की विभिन्नता इतना ज्यादा थी कि पूरा समाज टुकड़े-टुकड़े ऊंच नीच के आचार विचारों में विभाजित था। कमोवेश यह हालात आज भी विद्यमान हैं। ब्राह्मण सब पर हावी था। भूमि, धन, सम्पत्ति और शिक्षा, सभी उनमें ही केन्द्रीभूत थी। श्रम और कलाकौशल निम्न स्तर के कार्य माने जाते थे। अपने हाथ से खेती बाड़ी करने वाले ब्राह्मण भी उपेक्षित और हेय दृष्टि से देखे जाते थे। उन्हें छोटी धोती का ब्राह्मण कहा जाता था। ठाकुरों की स्थिति इन छोटे ब्राह्मण और शिल्पकारों के मध्य की थी। उनमें भी ब्राह्मणों जितनी ऊँची-नीची जातियों की सीढ़ियां थी। यह जाति बिरादरी का तानाबाना तो आज भी विद्यमान है लेकिन छोटे ब्राह्मण, ठाकुर और हरिजन शिल्पकारों में भी चेतना, नेतृत्व और आत्म बोध विकसित हो चुका है। हरिजनों में जागृति का सूत्रपात आर्य समाज और लाला लाजपत राय के सन् 1913 के कुमाऊँ के दौर से शुरू हुआ था।

इधर सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम और उसके बाद के वर्षों में पूरे देश में कोशिश जारी थी कि किसी तरह अंग्रेज भारत से जायें पर कुमाऊँ पर उनका प्रभाव नगण्य सा रहा। अलबत्ता अल्मोड़ा में कुछ लोगों ने सन् 1871 में पं० बुद्धि बल्लभ पंत की पहल पर एक डिबेटिंग क्लब बनाया और प्रान्तीय गर्वनर सर विलियम म्यूर को आमंत्रित किया। गर्वनरी की राय पर ही उन्होंने ही अल्मोड़ा में पहला प्रिन्टिंग प्रेस लगाया तथा "अल्मोड़ा अखबार" नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जो सन् 1891 तक लीथों में छपता रहा। बाद में टाइप पर छपने लगा था। यह प्रदेश में हिन्दी का पहला साप्ताहिक था जिसका रजिस्ट्रेशन नं०-10 था। तब लखनऊ के पायनियर का रजिस्ट्रेशन नं०-9 था। सन् 1913 में इसके सम्पादक पं० बद्रीदत्त पाण्डे बने। उन्होंने उसे राष्ट्रीय रंग में रंग दिया। लोमस डिप्टी कमिश्नर था। उसने मुद्रक प्रकाशक को जेल भेजने की धमकी दी इस पर पाण्डे जी से इस्तीफा लिया गया। सन् 1918 में अपने सहयोगियों की मदद से देशभक्त प्रेस खोला और 'शक्ति' पत्रिका का साप्ताहिक सम्पादन शुरू किया। लोमस ने इस साप्ताहिक से 1000 रु० की जमानत ली। बहुत से महान स्वतंत्रता सेनानी श्री बद्रीदत्त पाण्डे, मोहन सनवाल, बल्लभ पांडे, लाल इन्द्र लाल साह, ठाकुर मोहन सिंह दङ्गवाल, पं० हरगोविन्द पंत, लाला चन्द्र लाल साहू, पं० लक्ष्मीदत्त शास्त्री जैसे लोगों ने "कुमाऊँ" परिषद मानक राजनीतिक

संस्था की स्थापना की। इसके अधिवेशन 1926 तक इस तरह हुए सन् 1917 में जयदत्त जोशी की अध्यक्षता में सन् 1919 में कोटद्वार में हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में सन् 1920 में काशीपुर में बद्रीदत्त पाण्डे की अध्यक्षता में सन् 1923 में टनकपुर में बाबू मुकन्दीलाल की अध्यक्षता में सन् 1926 में गनियादयोली में इसके अधिवेशन हुए थे। एन् 1923 के बाद यह परिषद कांग्रेस में विलीन हो गई थी जिसकी स्थापना 28 सितम्बर 1885 को बम्बई में गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज में एक अधिवेशन के दौरान हुई थी।

सन् 1912 में कांग्रेस की प्रयाग में हुई बैठक में कुमाऊँ से भी लोग शामिल हुए थे। पं० वाचस्पति पंत, पं० ज्वालादत्त जोशी, पं० हरिराम पाण्डे, मुंशी सदानन्द सनवाल, शेख मानुल्ला, पं० माधव गुरुरानी, राय बहादुर बद्रीदत्त जोशी के नाम उनमें उल्लेखनीय हैं। 1916 में भी यहाँ से कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में लोगों ने भाग लिया था। सन् 1913 में स्वामी सत्यदेव अल्मोड़ा आये थे और उन्होंने शुद्ध साहित्य समिति नाम से संस्था स्थापित करके राष्ट्रीय संदेश दिया था। इसी वर्ष लाला लाजपत राय भी कुमाऊँ में आये थे।

सन् 1914 में पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया। जो सन् 1918 में समाप्त हुआ पर अंग्रेजों ने उसमें मदद की एवज में 'रौलेट एक्ट' जैसा काला कानून दिया जिसमें न अपील, न दलील और न वकील की आवश्यकता थी। किसी को भी जेल में डूसा जा सकता था। इसके विरोध में गांधी जी के आह्वान पर असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। देश भर में सभाएँ व हड़ताल हुईं। 19 अप्रैल 1919 को अमृतसर के जलियावाला बाग में इस एक्ट के विरोध में विशाल सभा हो रही थी और हंसराज नामक व्यक्ति भाषण दे रहे थे। तभी अंग्रेजों की फौज ने चारों तरफ से घिरे लोगों पर गोली वर्षा शुरू कर दी थी। लगभग एक हजार स्त्री पुरुष उसमें शहीद हुए थे। इस घटना ने पूरे देश के साथ-साथ कुमाऊँ में भी हलचल पैदा कर दी थी। 1921 में असहयोग की लहर यहां तक पहुंच चुकी थी। काशीपुर में कुली उतार प्रथा के विरुद्ध सत्याग्रह किये जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। फलस्वरूप चालीस हजार लोगों ने बागेश्वर में सरयू तट पर गंगाजल उठाकर कुली उतार न देने की प्रतीज्ञा की। मोहन सिंह मेहता, हरिकृष्ण पांडे, बद्रीदत्त और मोतीराम वैष्णव, मोतीराम त्रिपाठी, केदारदत्त पंत शास्त्री, लाल नाथू लाल साह, शिव दत्त जोशी, प्रयाग दत्त पंत, बद्रीदत्त पाण्डे, गंगाराम, प्रेम लाल वर्मा, राम लाल वर्मा, नरसिंह, गंगाराम वर्मा, खीमानन्द, पद्मादत्त त्रिपाठी, किशोरी लाल, देवी लाल वर्मा, श्याम लाल साह, तेज सिंह, हीरा सिंह, बंशीधर जोशी, डा० चन्द्रदत्त पाण्डे, धर्मानन्द, शीशराम, भागीरथ खुल्बे आदि पकड़ कर जेल में डाल दिये गये। काशीपुर से पं० रामदत्त, लाल रामशरण मेहरोत्रा, किशोरी लाल गुड़िया भी जेल भेजे गये। कुली उतार के बाद कुमाऊँ में सूखा पड़ा। गरमी के कारण जंगलों में आग लगी उसका दोष कुमाँचल वासियों पर डाला गया तथा लोग जेल भेजे गये। कुमाऊँ में यह जागरण का जमाना था बद्रीदत्त पाण्डे राष्ट्रीय विचारधारा के तेजस्वी पत्रकार विचारक और आन्दोलनकर्ता थे। (चकराता, देहरादून में अंग्रेजी के कास्मोपोलिटिन) का सम्पादन करने के बाद इलाहाबाद में 'लीडर' के उप सम्पादक रहे और उसे भी छोड़कर उन्होंने 'अल्मोड़ा-अखबार' चलाया। तब की पत्रकारिता तलवार की धार पर चलने जैसे हुआ करती थी। विज्ञापन बटोरने और कागज का कोटा खाने की बात स्वप्न में भी नहीं सोची जा सकती थी। लीथो पर हाथ से लिखे अखबार के पन्ने प्राण फूंकने की ताकत रखते थे। उसके लिए लिखना करना और मर मिटना लक्ष्य हुआ करता था। पांडे जी ने विचारों और व्यवहार से कली उतार के अलावा जंगलात लाइसेंस, नयाबाद, बंदोबस्त जैसे ज्वलंत विषयों को ऐतिहासिक मोड़ पर पहुँचा दिया था। कुली बेगार प्रथा सदा-सदा के लिए विदा हो गई थी।

पं० बद्रीदत्त पाण्डे कुमाऊँ में ऐसी पत्रकारिता के पितामह और स्वतंत्रता संग्राम के योद्धा थे। उनका जीवन इतना संघर्षमय था कि उनका एक पांव हमेशा जेल में रहता था। सन् 1921 से उन्होंने लगातार जेल यात्राएँ की। सन् 42-43 में दो बार की नजरबंदी के अलावा 4 वर्ष की कैद हुई थी। जब उन्हें नैनीताल, बरेली, गोरखपुर, देहरादून की जेलों में भेजा जा रहा था तब उन्हें अपने परिवारजनों का विद्रोह भी सहना पड़ा था। सन् 1932 में जब वह बरेली की सेंट्रल जेल में थे तो बनारस में पढ़ रहा उनका पुत्र तारकनाथ गंगा में डूब जाने के कारण मर गया तथा बम्बई में उनकी पुत्री ने आत्महत्या कर ली। ऐसी परिस्थितियाँ किसी को भी विचलित करती। ऐसी परिस्थितियाँ किसी को भी विचलित करने के लिए काफी थी। लेकिन पांडे जी ने अपनी पीड़ा को गहन अध्ययन मनन में डुबोकर उसे बर्दाश्त किया। उनके इस अध्ययन के कुमाऊँ

के इतिहास के रूप में एक बहुमूल्य संदर्भ ग्रंथ प्रदान किया।

13 जनवरी 1965 में भारत माता के इस अनन्य सपूत, स्वतंत्रता सेनानी और निर्भिक पत्रकार ने अपनी अंतिम सांस ली। उनकी इच्छा के अनुसार उनका अंतिम संस्कार किया गया। जहाँ उन्होंने सन् 1921 में कुली उतार प्रथा को समाप्त करने का आह्वान किया था।

स्वतंत्रता सेनानी पत्रकारों की कतारों में कुमाऊँ के अनेक गौरवशाली नाम आते हैं। विक्टर मोहन जोशी (अल्मोड़ा) पीताम्बर पाण्डे (हल्द्वानी), धर्मानन्द पाण्डे, देवकीनन्दन ध्यानी, जयदत्त वैला, मनमोहन उपाध्याय (रानीखेत), हीरालाल साह (भवानी), पूरनचन्द्र तिवारी, नारायणदत्त भण्डारी (नैनीताल) राम सिंह धौनी (अल्मोड़ा) आदि नाम अपनी पहचान करते हैं। मदन मोहन उपाध्याय ने तो गुप्त रेडियो स्टेशन चलाया था।

विक्टर मोहन जोशी भी शक्ति के सम्पादकों में रहे। बद्रीदत्त पाण्डे के सम्पादन और उनके प्रभावशाली लेखों के कारण 'शक्ति' की तेजस्विता से गोरे शासक घबराने लगे तो कमिश्नर को गोविन्द बल्लभ पंत से कहना पड़ा कि या तो सम्पादक बदलो नहीं तो अखबार बंद किया जायेगा तभी विक्टर मोहन जोशी को सम्पादक बनाया गया था। विक्टर मोहन जोशी ने 1930 में असहयोग आन्दोलन के दौरे में अल्मोड़ा नगर पालिका भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहराने की जो वीरता दिखाई तथा पुलिस की निर्दयता सही उस पर 11 जुलाई 1930 की यंग इंडिया में देश की क्रिश्चियन बिरादरी का अप्रतिम पुष्प कहकर सम्मानित किया गया था। जवाहर लाल नेहरू ने एक पत्र में विक्टर मोहन जोशी के बारे में कहा था कि "विक्टर जोशी असहयोग आन्दोलन के एक वीर सैनिक थे और उन्होंने उसके लिए सब कुछ त्याग दिया था।"

झिझाड़ के दीवान परिवार में जन्मे कामरेड पी.सी. जोशी को देश ही नहीं विश्व जनता है। वह भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी को मानते थे।

स्वतंत्रता सेनानी और पत्रकार कामरेड पीताम्बर पांडे को 'जागृत जनता' के सम्पादन के रूप में जाना जाता है। यह पत्र 1933 में अल्मोड़ा में शुरू किया गया था मगर बाद में पाण्डेजी उसे हल्द्वानी ले आये थे। उसे वह स्वयं और उनकी पत्नी लीलावती मिलकर निकालते थे। यह दम्पति ही इस साप्ताहिक की मुद्रक प्रकाशक, सम्पादक थी और यही कम्पोजीटर, प्रूफ रीडर और हाकर भी थी। उसकी शुल्क से आटा कुर्ते में लेकर घर लौटे हुए बहरे पाण्डे जी को हल्द्वानी के लोग कैसे भूल सकते हैं।

कानपुर, दिल्ली, इलाहाबाद और लखनऊ उनके पूर्व कार्य क्षेत्र रहे थे तथा उनके क्रान्तिकारियों से निकट सम्बन्ध थे। दो बार जेल में रहे। जिलाधिकारी के विरुद्ध लिखने पर उन्हें जुर्माना हुआ। दर्जा 4 तक पड़े पीताम्बर पाण्डे हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य के बहुत अच्छे ज्ञाता थे तथा मैक्सिम गोर्की से प्रभावित थे। 13 अक्टूबर सन् 1971 में 65 वर्ष की आयु में हल्द्वानी में उनकी मृत्यु हुई। गणेश शंकर विद्यार्थी के साथ कानपुर में पैर में लगी गोली का नासूर मृत्यु पर्यन्त रहा। वह रानीखेत में मृत पाये गये थे।

जयदत्त वैला, कुलानन्द भारती, धर्मानन्द पाण्डे, पूरन चन्द्र तिवारी (स्वाधीन प्रजा), इन्द्र सिंह नयाल (फ्रीलान्स लेखक), रामबाबू मल्होत्रा (फ्रीप्रेस के नैनीताल में प्रतिनिधि) भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे। मोहन लाल साह अल्मोड़ा अखबार से सम्बद्ध रहे। ला0 शंकर लाल (रस्सी गली) हल्द्वानी का पियरसन गंज में गुप्तरूप से प्रकाशन करने वाला भूमिगत प्रिंटिंग प्रेस था। वह बम बनाने में माहिर थे और आज जहां एम.बी. कालेज हैं, वहां के जंगल में उनका प्रायः परीक्षण किया करते थे। इसी नगर और इसी गली के अदम्य साहसी बाबू राम कप्तान क्रान्तिकारियों, उनकी गतिविधियों उनके सूचना संचालन के सबसे बड़े निर्देशक और संरक्षक थे।

आज कांग्रेस के शीर्ष नेता नारायणदत्त तिवारी अपने विद्यार्थी जीवन से ही पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गये थे। देशदूत, लीडर, नेशनल हैरल्ड में सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर विचारोत्तेजक लेख लिखने लगे थे। बचपन में ही उनके पिता

पूर्णानन्द जी उन्हें न सिर्फ अखबार पढ़वाते थे बल्कि सम्बन्धित सवाल पूछकर उनकी मेधा की परीक्षा भी लिया करते थे। अखबार पढ़ने की लगन उन्हें पदमपुरी से कई किलोमीटर दूर एक अंग्रेज इस्टेट तक ले जाती थी। उन्हें दो बार आना पड़ता था। श्री तिवारी ने अपनी पहली यूरोप और अमरीका यात्रा नेशनल हैराल्ड के प्रतिनिधि के रूप में की थी। चेलापति एवं (नेशनल हैराल्ड के सम्पादक) ने अपने सम्पादकियों में उनके लेखों की प्रशंसा की थी। वह 1942 के आन्दोलन में अपने पिता के साथ जेल गये थे। स्व० नारायणदत्त भण्डारी ने 1942 के आन्दोलन में ढाई वर्ष का कारावास भोगा था। आजादी के बाद स्वराज्य आश्रम हल्द्वानी में प्रेस लगाकर उन्हें 'कर्मयुग' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन किया था। बाद में वह उसे बंद करके महात्मा गांधी के नाम से खोले गये स्कूल में प्रधानाचार्य हो गये। उनका संस्थापित यह विद्यालय आज हल्द्वानी का एक प्रमुख इंटर कालेज है।

सन् 1893-94 में बाबू देवी दास ने अपना कुमाऊँ प्रिंटिंग प्रेस खोला और उसे 'कुर्माचल समाचार' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र निकाला। सन् 1992 में कुछ लोगों ने शक्ति से अलग होकर सोमवारी प्रेस खोला और 'ज्योति' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। बाद में प्रेस बिक गया और पत्रिका बन्द हो गयी। सन् 1918 में रानीखेत के एंग्लो वर्नाक्यूलर प्रेस से कुछ दिनों तक 'हिमालय' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। कुमाऊँ प्रिंटिंग वर्क्स से कुर्माचल मित्र भी छपा। 1918 में डिप्टी-प्रेस क्लब को एक हिस्सेदार ने खरीद लिया तथा उनका नाम बदलकर विन्ध्यवासिनी प्रेस कर दिया। उससे सन् 1922 से जिला समाचार नामक साप्ताहिक का प्रकाशन होता रहा। सन् 1930 में स्वाधीन प्रजा नामक साप्ताहिक निकला। इसके सम्पादक देश भक्त मोहन जोशी थे। नीति राष्ट्रीय ही थी। इसलिए छः माह बाद ही छह हजार रुपये का जमानत मांगी गई और वह बंद हो गया।

सन् 1934 से टम्टा जी ने 'समता' नामक साप्ताहिक निकाला। 1935 में इन्द्र प्रिंटिंग प्रेस से 'नटखट' नामक सचित्र बाल पत्रिका निकली। इन सबके बावजूद 'अल्मोड़ा अखबार' और बाद में शक्ति की राष्ट्रीय आन्दोलनों को कुमाऊँ तक पहुंचाने और कुमाऊँ में स्वयं के ब्रिटिश सरकार विरोधी आन्दोलनों को उठाने में जो भूमिका रही वह किसी की नहीं रही।

पं० बद्रीदत्त पाण्डे का साठ वर्ष पहले कहना था कि, "प्रेस जोरदार होना चाहिए तथा घर-घर समाचार पत्र पढ़ने वालों की अच्छी तायदाद होनी चाहिए तभी राष्ट्र की उन्नति हो सकती है।"

कुमाऊँ में सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जगाने का जो काम स्वतन्त्रता से पूर्व के पत्रकारों ने किया और जितने जोखिम उठाये वह सदा याद किये जाते रहेंगे। उनका जीवन आदर्श के रूप में द्वीप स्तम्भ की तरह पीढ़ियों तक मार्ग दर्शन करता रहेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाठक, शेखर : "सरफरोशी की तमन्ना," संकलित (उत्तराखण्ड में स्वाधीनता संग्राम का दृश्य), पृष्ठ-58-59-61, प्रकाशन-1998।
2. सकलानी, शक्ति प्रसाद : "उत्तराखण्ड में पत्रकारिता का इतिहास", पृष्ठ-312-314, उत्तरा प्रकाशन, टी कैम्प रूद्रपुर।
3. पाठक, शेखर : "पहाड-2", 1986 (उत्तराखण्ड में सामाजिक आन्दोलनों की रूपरेखा), पृष्ठ-96, थामा रोहिला बॉज, नैनीताल प्रकाशन।
4. पाण्डे, बद्री दत्त : "कुमाऊँ का इतिहास", (छापेखाने व समाचार पत्र) पृष्ठ-151, श्याम प्रकाशन, अल्मोड़ा मूल संस्करण 1937।
5. कोटनाला, अश्वनी : "लैन्सडौन, समाज, संस्कृति और इतिहास", प्रकाशन-2004, विनसर पब्लिसिंग कम्पनी,

देहरादून।

6. मनराल, धर्म पाल सिंह, मिततल, अरूण : “उत्तराखण्ड के प्रमुख स्वतन्त्रता सेनानी”, पृष्ठ-6, अल्मोड़ा बुक डिपो प्रथम संस्करण, 1977 प्रकाशन-बरेली।
7. शाह, ज्योति : “शक्ति के तीन दशक” (उत्तराखण्ड में राष्ट्रावादी पत्रकारिता का अध्ययन) प्रकाशक- पहाड़, नैनीताल, 2009 मूल संस्करण।
8. राम, गोपाल : “भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास”, पृष्ठ-1, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी।
9. सकलानी, शक्ति प्रसाद: “उत्तराखण्ड की विभूतियाँ” ,1936, प्रकाशन -2001, उत्तरा प्रकाशन, टी कैम्प रूद्रपुर।
10. Bhatnagar, R.R : “The Rise and growth of Hindi Journalism” पृष्ठ, 132, इलाहाबाद, 1871.91द्य
11. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद : “समाचार पत्रों का इतिहास”, वर्ष-1953, बनारस।
12. शक्ति (समाचार पत्र) अंक-20,12-14 फरवरी, 2004 वर्ष।
13. भक्त, दर्शन : “गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ” पृष्ठ-412,1952, देहरादून,।
14. वैदिक, वेद प्रताप : “हिन्दी पत्रकारिता एक सौ वर्ष: विविध आयाम” पृष्ठ-124, वर्ष-1976, दिल्ली।
15. धस्माना, योगेश : “उत्तराखण्ड में जन – जागरण और आन्दोलनों का इतिहास” 1977, विनसर पब्लिशिंग कम्पनी देहरादून।
16. उप्रेती, आनन्द बल्लभ : “पिघलता हिमालय” (सम्पादक) विशेष सहयोग।